।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ दशमोऽध्यायः

गत अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गुप्त राजविद्या का चित्रण किया, जो निश्चय ही कल्याण करती है। दसवें अध्याय में उनका कथन है कि, महाबाहु अर्जुन! मेरे परम रहस्ययुक्त वचन को फिर भी सुन। यहाँ उसी को दूसरी बार कहने की आवश्यकता क्या है? वस्तुतः साधक को पूर्तिपर्यंत खतरा है। ज्यों-ज्यों वह स्वरूप में ढलता जाता है, प्रकृति के आवरण सूक्ष्म होते जाते हैं, नये-नये दृश्य आते हैं। उसकी जानकारी महापुरुष ही देते रहते हैं। वह नहीं जानता। यदि वे मार्गदर्शन करना बन्द कर दें, तो साधक स्वरूप की उपलब्धि से वंचित रहेगा। जब तक वह स्वरूप से दूर है, तब तक सिद्ध है कि प्रकृति का कोई-न-कोई आवरण बना है। फिसलने-लड़खड़ाने की संभावना बनी रहती है। अर्जुन शरणागत शिष्य है। उसने कहा था - **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**- भगवन्! मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण हूँ, मुझे संभालिये। अतः उसके हित की कामना से योगेश्वर श्रीकृष्ण पुनः बोले-

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

महाबाहु अर्जुन! मेरे परम प्रभावयुक्त वचन को पुनः सुन, जो मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवाले के हित की इच्छा से कहूँगा।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।२।।

अर्जुन! मेरी उत्पत्ति को न देवता लोग जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा था, **'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'**- मेरा वह जन्म और कर्म अलौकिक है, इन चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता। इसलिए मेरे उस प्रकट होने को देव और महर्षि स्तर तक पहुँचे हुए लोग भी नहीं जानते। मैं सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि कारण हूँ।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

जो मुझ जन्म-मृत्यु से रहित, आदि-अन्त से रहित सब लोकों के महान ईश्वर को साक्षात्कार सहित विदित कर लेता है, वह पुरुष मरणधर्मा मनुष्यों में ज्ञानवान् है अर्थात् अज, अनादि और सर्वलोक महेश्वर को भली प्रकार जानना ही ज्ञान है और ऐसा जाननेवाला सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है, पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह उपलब्धि भी मेरी ही देन है।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।।४।।

अर्जुन! निश्चयात्मिका बुद्धि, साक्षात्कार सहित जानकारी, लक्ष्य में विवेकपूर्वक प्रवृत्ति, क्षमा, शाश्वत सत्य, इंद्रियों का दमन, मन का शमन, अन्तःकरण की प्रसन्नता, चिन्तन-पथ के कष्ट, परमात्मा की जागृति, स्वरूप की प्राप्तिकाल में सर्वस्व का विलय, इष्ट के प्रति अनुशासनात्मक भय और प्रकृति से निर्भयता तथा-

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अहिंसा अर्थात् अपने आत्मा को अधोगति में न पहुँचाने का आचरण, समता - जिसमें विषमता न हो, संतोष, तप- मनसहित इन्द्रियों को लक्ष्य के अनुरूप तपाना, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण, भगवत्पथ में मान-अपमान का सहन - इस प्रकार प्राणियों के उपर्युक्त भाव मुझसे ही होते हैं। ये सभी भाव दैवी चिंतन-पद्धति के लक्षण हैं। इनका अभाव ही आसुरी सम्पद् है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

सप्तर्षि अर्थात् योग की सात क्रमिक भूमिकायें (शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना और तुर्यगा) तथा इनके अनुरूप अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार), उसके अनुरूप मन जो मेरे में भाववाला है - यह सब मेरे ही संकल्प से (मेरी प्राप्ति के संकल्प से तथा जो मेरी ही प्रेरणा से होते हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं) उत्पन्न होते हैं। इस संसार में ये (सम्पूर्ण दैवी सम्पद्) इन्हीं की प्रजा है। क्योंकि सप्त भूमिकाओं के संचार में 'दैवी सम्पद्' ही है, अन्य नहीं।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

जो पुरुष योग की और मेरी उपर्युक्त विभूतियों को साक्षात्कार के साथ जानता है, वह स्थिर ध्यानयोग द्वारा मुझमें एकीभाव से स्थित होता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं है। जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखे दीपक की लौ सीधी जाती है, कंपन नहीं होता, योगी के जीते हुए चित्त की यही परिभाषा है। प्रस्तुत श्लोक में 'अविकम्पेन' शब्द इसी आशय की ओर संकेत करता है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ, मुझसे ही सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है- इस प्रकार मानकर श्रद्धा और भक्ति से युक्त विवेकीजन मेरा निरन्तर भजन करते हैं। तात्पर्य यह है कि योगी द्वारा मेरे अनुरूप जो प्रवृत्ति होती है, उसे मैं ही किया करता हूँ। वह मेरा ही प्रसाद है। (कैसे है? इसे पीछे स्थान-स्थान पर बताया जा चुका है) वे निरन्तर भजन किस प्रकार करते हैं? इस पर कहते हैं-

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अन्य किसी को स्थान न देकर मुझमें ही निरन्तर चित्त को लगानेवाले, मुझमें ही प्राणों को लगानेवाले सदैव परस्पर मेरी प्रक्रियाओं का बोध करते हैं। मेरा गुणगान करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं तथा निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

निरन्तर मेरे ध्यान में लगे हुए तथा प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन भक्तों को मैं वह बुद्धियोग अर्थात् योग में प्रवेशवाली बुद्धि देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं अर्थात् योग की जागृति ईश्वर की देन है। वह अव्यक्त पुरुष 'महापुरुष' योग में प्रवेश दिलानेवाली बुद्धि कैसे देता है?-

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

उनके ऊपर पूर्ण अनुग्रह करने के लिए मैं उनकी आत्मा से अभिन्न खड़ा होकर, रथी होकर अज्ञान से उत्पन्न हुए अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा प्रकाशित कर नष्ट करता हूँ। वस्तुतः किसी स्थितप्रज्ञ योगी द्वारा जब तक वह परमात्मा आपके आत्मा से ही जाग्रत होकर पल-पल पर संचालन नहीं करता, रोकथाम नहीं करता, इस प्रकृति के द्वन्द्व से निकालते हुए स्वयं आगे नहीं ले चलता, तब तक वास्तव में यथार्थ भजन आरम्भ ही नहीं होता। वैसे तो भगवान सर्वत्र से बोलने लगते हैं लेकिन प्रारम्भ में वे स्वरूपस्थ महापुरुष द्वारा ही बोलते हैं। यदि ऐसा महापुरुष आपको प्राप्त नहीं है, तो वे स्पष्ट नहीं बोलेंगे।

इष्ट, सद्गुरु अथवा परमात्मा का रथी होना एक ही बात है। साधक की आत्मा से जागृत हो जाने पर उनके निर्देश चार प्रकार से मिलते हैं। पहले स्थूलसुरा-सम्बन्धी अनुभव होता है। आप चिन्तन में बैठे हैं। कब आपका मन लगनेवाला है? कितनी सीमा तक लग गया है? कब मन भागना चाहता है और कब भाग गया? इसको हर मिनट-सेकेण्ड पर इष्ट अंग-स्पंदन से संकेत करते हैं। अंगों का फड़कना स्थूलसुरा-सम्बन्धी अनुभव है, जो एक पल में दो-चार स्थान पर एक साथ आता है और आपके विकृत हो जाने पर मिनट मिनट पर आने लगेगा। यह संकेत तभी आता है, जब इष्ट के स्वरूप को आप अनन्य भाव से पकड़ें अन्यथा साधारण जीवों में संस्कार के टकराव से अंग-स्पंदन होते रहते हैं, जिनका इष्ट वालों से कोई सम्पर्क नहीं है।

दूसरा अनुभव स्वप्नसुरा-सम्बन्धी होता है। साधारण मनुष्य अपनी वासनाओं से सम्बन्धित स्वप्न देखता है; किन्तु जब आप इष्ट को पकड़

लेंगे तो यह सपना भी निर्देश में बदल जाता है। योगी सपना नहीं देखता, होनी देखता है।

उपर्युक्त दोनों अनुभव प्रारम्भिक हैं, किसी तत्त्वस्थित महापुरुष के सान्निध्य से, मन में उनके प्रति श्रद्धा रखने मात्र से, उनकी टूटी-फूटी सेवा से भी जागृत हो जाते हैं; किन्तु इन दोनों से भी सूक्ष्म शेष दो अनुभव क्रियात्मक हैं, जिन्हें क्रियात्मक चलकर ही देखा जा सकता है।

तीसरा अनुभव सुषुप्ति सुरा-सम्बन्धी होता है। संसार में सब सोते ही तो हैं। मोह-निशा में सभी अचेत पड़े हैं। रात-दिन जो कुछ करते हैं, स्वप्न ही तो है। यहाँ सुषुप्ति का शुद्ध अर्थ है, जब परमात्मा के चिन्तन की ऐसी डोरी लग जाय कि सुरत (ख्याल) एकदम स्थिर हो जाय, शरीर जागता रहे और मन सुप्त हो जाय। ऐसी अवस्था में वह इष्टदेव फिर अपना एक संकेत देंगे। योग की अवस्था के अनुरूप एक रूपक (दृश्य) आता है जो सही दिशा प्रदान करता है, भूत-भविष्य से अवगत कराता है। 'पूज्य महाराज जी' कहा करते थे कि डाक्टर जैसे बेहोशी की दवा देकर, उचित उपचार देकर होश में लाता है ऐसे ही भगवान बता देते हैं।

चौथा और अन्तिम अनुभव समसुरा-सम्बन्धी है। जिसमें सुरत लगायी थी, उस परमात्मा से समत्व प्राप्त हो गया, उसके बाद उठते-बैठते, चलते-फिरते सर्वत्र से उसे अनुभूति होने लगती है। यह योगी त्रिकालज्ञ होता है। यह अनुभव तीनों कालों से परे अव्यक्तस्थितिवाले महापुरुष आत्मा से जागृत होकर अज्ञानजनित अन्धकार को ज्ञानदीप से नष्ट करके करते हैं। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

भगवन्! आप परब्रह्म, परमधाम तथा परम पवित्र हैं; क्योंकि आपको सभी ऋषिगण सनातन, दिव्यपुरुष, देवों का भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। परमपुरुष, परमधाम का ही पर्याय दिव्यपुरुष, अजन्मा

आदि शब्द हैं। देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास तथा स्वयं आप भी मुझसे वही कहते हैं। अर्थात् पहले भूतकालीन महर्षि कहते हैं, अब वर्तमान में जिनकी संगत उपलब्ध है नारद, देवल, असित और व्यास का नाम लिया, जो अर्जुन के समकालीन थे (सत्पुरुषों की संगति अर्जुन को प्राप्त थी) आप भी वही कहते हैं। अतः-

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

हे केशव! जो कुछ भी आप मेरे लिए कह रहे हैं, वह सब मैं सत्य मानता हूँ। आपके व्यक्तित्व को न देवता और न दानव ही जानते हैं।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

हे भूतों को उत्पन्न करनेवाले! हे भूतों के ईश्वर! हे देवदेव! हे जगत् के स्वामी! हे पुरुषों में उत्तम! स्वयं आप ही अपने को जानते हैं अथवा जिसकी आत्मा में जागृत होकर आप जना देते हैं, वही जानता है। यह भी आपके द्वारा आपका जानना हुआ। इसलिए-

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

आप ही अपनी उन दिव्य विभूतियों को सम्पूर्ण रूप से लेशमात्र भी शेष न रखकर कहने में सक्षम हैं, जिन विभूतियों द्वारा आप इन सब लोकों को व्याप्त करके स्थित हैं।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

हे योगिन्! (श्रीकृष्ण एक योगी थे) मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! मैं किन-किन भावों द्वारा आपका स्मरण करूँ?

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

हे जनार्दन! अपनी योगशक्ति को और योग की विभूति को फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये। संक्षेप में तो इसी अध्याय के आरम्भ में कहा ही है

पुनः कहिए; क्योंकि अमृत तत्त्व को दिलानेवाले इन वचनों को सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस विशेष जाना तिन्ह नाहीं।।

(रामचरितमानस, ७/५२/१)

जब तक प्रवेश नहीं मिल जाता तब तक उस अमृत तत्त्व को जानने की पिपासा बनी रहती है। प्रवेश से पूर्व रास्ते में ही यह सोचकर कोई बैठ गया कि बहुत जान लिया, तो उसने नहीं जाना। सिद्ध है कि उसका मार्ग अवरुद्ध होना चाहता है। इसलिए साधक को पूर्तिपर्यन्त इष्ट के निर्देशन को पकड़ते रहना चाहिए और उसे आचरण में ढालना चाहिए। अर्जुन की उक्त जिज्ञासा पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा–

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं अपनी दिव्य विभूतियों को, उनमें से प्रमुख विभूतियों को तुझसे कहूँगा; क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अर्जुन! मैं सब भूतों के हृदय में स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ अर्थात् जन्म, मृत्यु और जीवन भी मैं ही हूँ।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

मैं अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु और ज्योतियों में प्रकाशमान सूर्य हूँ। वायु के भेदों में मैं मरीचि नामक वायु और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

वेदों में मैं सामवेद अर्थात् पूर्ण समत्व दिलानेवाला गायन हूँ। देवों में मैं उनका अधिपति इन्द्र हूँ और इन्द्रियों में मन हूँ; क्योंकि मन के निग्रह से ही

मैं जाना जाता हूँ तथा प्राणियों में मैं उनकी चेतना हूँ।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

एकादश रुद्रों में मैं शंकर हूँ। शङ्क अरः स शंकरः अर्थात् शंकाओं से उपराम अवस्था में हूँ। यक्ष तथा राक्षसों में मैं धन का स्वामी कुबेर हूँ। आठ वसुओं में मैं अग्नि और शिखरवालों में सुमेरु अर्थात् शुभों का मेल मैं हूँ। वही सर्वोपरि शिखर है, न कि कोई पहाड़ी। वस्तुतः यह सब योग-साधना के प्रतीक हैं, यौगिक शब्द हैं।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

पुर की रक्षा करनेवाले पुरोहितों में बृहस्पति मुझे ही जान, जिससे दैवी सम्पद् का संचार होता है और हे पार्थ! सेनापतियों में मैं स्वामी कार्तिकेय हूँ। कर्म का त्याग ही कार्तिक है, जिससे चराचर का संहार, प्रलय और इष्ट की प्राप्ति होती है। जलाशयों में मैं समुद्र हूँ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

महर्षियों में मैं भृगु हूँ और वाणी में एक अक्षर 'ॐ' कार हूँ, जो उस ब्रह्म का परिचायक है। सब प्रकार के यज्ञों में मैं जप-यज्ञ हूँ। यज्ञ परम में प्रवेश दिला देनेवाली आराधना की विधि-विशेष का चित्रण है। उसका सारांश है- स्वरूप का स्मरण और नाम का जप। दो वाणियों से पार हो जाने पर नाम जब यज्ञ की श्रेणी में आता है तो वाणी से नहीं जपा जाता, न चिन्तन से न कण्ठ से बल्कि वह श्वास में जागृत हो जाता है। केवल सुरत को श्वास के पास लगाकर मन से अविरल चलना भर पड़ता है। यज्ञ की श्रेणीवाले नाम का उतार-चढ़ाव श्वास पर निर्भर है। यह क्रियात्मक है। स्थिर रहनेवालों में हिमालय हूँ। शीतल, सम और अचल एकमात्र परमात्मा है। जब प्रलय हुआ, तब मनु उसी शिखर में बँध गया। अचल, सम और शान्त ब्रह्म का प्रलय नहीं होता। उस ब्रह्म की पकड़ मैं हूँ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

सब वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ। अश्वः - कल तक भी जिसके रहने की गारण्टी नहीं दी जा सकती, ऐसा **'ऊर्ध्वमूलमधः शाखम् अश्वत्थ'** (१५/१) - ऊपर परमात्मा जिसका मूल है, नीचे प्रकृति जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा संसार ही एक वृक्ष है, जिसे पीपल की संज्ञा दी गयी है। सामान्य पीपल का वृक्ष नहीं कि पूजा करने लगें। इसी पर कहते हैं कि वह मैं हूँ और देवर्षियों में मैं नारद हूँ। नादस्य रंध्रः स नारदः। दैवी सम्पद् इतनी सूक्ष्म हो गयी कि स्वर में उठनेवाली ध्वनि (नाद) पकड़ में आ जाय, ऐसी जागृति मैं हूँ। गन्धर्वों में मैं चित्ररथ हूँ अर्थात् गायन (चिन्तन) करनेवाली प्रवृत्तियों में जब स्वरूप चित्रित होने लगे, वह अवस्था-विशेष मैं हूँ। सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ। काया ही कपिल है। इसमें जब लव लग जाय, ऐसी ईश्वरीय संचार की अवस्था मैं हूँ।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।।२७।।

घोड़ों में मैं अमृत से उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा हूँ। दुनिया में हर वस्तु नाशवान् है। आत्मा ही अजर-अमर, अमृतस्वरूप है। इस अमृतस्वरूप से जिसका संचार है, वह घोड़ा मैं हूँ। घोड़ा गति का प्रतीक है। आत्मतत्त्व को ग्रहण करने में मन जब उधर गति पकड़ता है, घोड़ा है। ऐसी गति मैं हूँ। हाथियों में ऐरावत नामक हाथी मैं हूँ। मनुष्यों में राजा मुझको जान। वस्तुतः महापुरुष ही राजा है, जिसके पास अभाव नहीं है।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

शस्त्रों में मैं वज्र हूँ। गायों में कामधेनु हूँ। कामधेनु कोई ऐसी गाय नहीं है, जो दूध के स्थान पर मनचाहा व्यंजन परसती हो। ऋषियों में वशिष्ठ के पास कामधेनु थी। वस्तुतः 'गो' इन्द्रियों को कहते हैं। इन्द्रियों का संयत होना इष्ट को वश में रखनेवाले में पाया जाता है। जिसकी इन्द्रियाँ ईश्वर के अनुरूप स्थिर हो जाती हैं, उसके लिए उसी की इन्द्रियाँ 'कामधेनु' बन जाती हैं। फिर तो **'जो इच्छा करिहउ मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।' (रामचरित मानस, ७/११३/४)**

उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। प्रजनन करनेवालों में नवीन स्थितियों को प्रकट करनेवाला मैं हूँ। 'प्रजनन'- एक तो लड़का बाहर पैदा किया जाता है। चराचर में रात-दिन पैदा ही होते हैं, चूहे-चींटी रात-दिन करते हैं ऐसा नहीं, बल्कि एक स्थिति से दूसरी स्थिति, इस प्रकार वृत्तियों का परिवर्तन होता है, वह परिवर्तित स्वरूप मैं हूँ। सर्पों में मैं वासुकि हूँ।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

नागों में मैं अनन्त अर्थात् शेषनाग हूँ। वैसे यह कोई सर्प नहीं है। गीता की समकालीन पुस्तक श्रीमद्भागवत में इसके रूप की चर्चा है कि इस पृथ्वी से तीस हजार योजन की दूरी पर परमात्मा की वैष्णवी शक्ति है, जिसके सिर पर यह पृथ्वी सरसों के दाने की तरह भाररहित टिकी है। उस युग में योजन का पैमाना चाहे जो रहा हो, फिर भी यह पर्याप्त दूर है। वस्तुतः यह आकर्षण शक्ति का चित्रण है। वैज्ञानिकों ने जिसे ईथर माना है। ग्रह-उपग्रह सभी उसी शक्ति के आधार पर टिके हैं। उस शून्य में ग्रहों का कोई भार भी नहीं है। वह शक्ति सर्प की कुण्डली की तरह सभी ग्रहों को लपेटे है। यही है वह अनन्त, जिससे पृथ्वी धारण की जाती है। श्रीकृष्ण कहते हैं - ऐसी ईश्वरीय शक्ति मैं हूँ। जलचरों में उनका अधिपति 'वरुण' हूँ तथा पितरों में 'अर्यमा' हूँ। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पाँच यम हैं। इनके पालन में आनेवाले विकारों को काटना 'अरः' है। विकारों के शमन से पितृ अर्थात् भूत-संस्कार तृप्त होते हैं, निवृत्ति प्रदान कर देते हैं। शासन करनेवालों में मैं यमराज हूँ अर्थात् उपर्युक्त यमों का नियामक हूँ।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ। (पर + आह्लाद - पर के लिए आह्लाद) प्रेम ही प्रह्लाद है। आसुरी सम्पद् में रहते हुए ईश्वर के लिए आकर्षण-विकलता आरम्भ होती है, जिससे परमप्रभु का दिग्दर्शन होता है, ऐसा प्रेमोल्लास मैं हूँ। गिनती करनेवालों में मैं समय हूँ। एक, दो, तीन, चार ऐसी गिनती या क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास इत्यादि नहीं, बल्कि ईश्वर के चिन्तन में लगा हुआ समय मैं हूँ। यहाँ तक कि **'जागत में सुमिरन करे, सोवत में लव**

लाय।' अनवरत चिन्तन में समय मैं हूँ। पशुओं में मृगराज (योगी भी मृ + ग अर्थात् योगरूपी जंगल में गमन करनेवाला है) तथा पक्षियों में गरुड़ मैं हूँ। ज्ञान ही गरुड़ है। जब ईश्वरीय अनुभूति आने लगती है, तब यही मन अपने आराध्य की सवारी बन जाता है और जब यही मन संशय से युक्त है तब सर्प होता है, डसता रहता है, योनियों में फेंकता है। गरुड़ विष्णु की सवारी है। जो सत्ता विश्व में अणुरूप से संचारित है, ज्ञानसंयुक्त मन उसे अपने में धारण करता है, उसका वाहक बनता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, इष्ट को धारण करनेवाला मन मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम हूँ। **'रमन्ते योगिनः यस्मिन् स रामः'**।- योगी किसमें रमण करते हैं? अनुभव में। ईश्वर इष्टरूप में जो निर्देशन देता है, योगी उसमें रमण करते हैं। उस जागृति का नाम राम है और वह जागृति मैं हूँ। मछलियों में मगर तथा नदियों में गंगा मैं हूँ।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

हे अर्जुन! सृष्टियों का आदि, अन्त और मध्य मैं ही हूँ। विद्याओं में अध्यात्म विद्या मैं हूँ। जो आत्मा का आधिपत्य दिला दे, वह विद्या मैं हूँ। संसार में अधिकांश प्राणी माया के आधिपत्य में हैं। राग, द्वेष, काल, कर्म, स्वभाव और गुणों से प्रेरित हैं। इनके आधिपत्य से निकालकर आत्मा के आधिपत्य में ले जानेवाली विद्या मैं हूँ, जिसे अध्यात्म विद्या कहते हैं। परस्पर होनेवाले विवादों में, ब्रह्मचर्चा में जो निर्णायक है, ऐसी वार्त्ता मैं हूँ। शेष निर्णय तो अनिर्णीत होते हैं।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

मैं अक्षरों में अकार - ओंकार तथा समासों में द्वन्द्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल मैं हूँ। काल सदैव परिवर्तनशील है; किन्तु वह समय जो अक्षय, अजर, अमर परमात्मा में प्रवेश दिलाता है, वह अवस्था मैं हूँ। विराट् स्वरूप

अर्थात् सर्वत्र व्याप्त, सबको धारण-पोषण करने वाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और आगे होनेवालों की उत्पत्ति का कारण हूँ। स्त्रियों में मैं यश, शक्ति, वाक्पटुता, स्मृति, मेधा अर्थात् बुद्धि, धैर्य और क्षमा मैं हूँ।

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार- **''द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।''(अध्याय १५/१६)**। पुरुष दो ही प्रकार के होते हैं, क्षर और अक्षर। सम्पूर्ण भूतादिकों की उत्पत्ति और विनाशवाले ये शरीर क्षर पुरुष हैं। वे नर, मादा, पुरुष अथवा स्त्री कुछ भी कहलाएँ, श्रीकृष्ण के शब्दों में पुरुष ही हैं। दूसरा है अक्षर पुरुष, जो कूटस्थ चित्त के स्थिर काल में देखने में आता है। यही कारण है कि इस योगपथ में स्त्री-पुरुष सभी समान स्थिति के महापुरुष होते आये हैं। किन्तु यहाँ स्मृति, शक्ति, बुद्धि इत्यादि स्त्रियों के ही गुण बताये गये। क्या इन सद्‌गुणों की आवश्यकता पुरुषों के लिए नहीं है? कौन ऐसा पुरुष है जो श्रीमान्, कीर्तिवान्, वक्ता, स्मरणशक्ति सम्पन्न, मेधावी, धैर्यवान्, और क्षमावान् नहीं बनना चाहता? बौद्धिक स्तर पर कमजोर लड़कों में इन्हीं गुणों का विकास करने के लिए माता-पिता पढ़ाई की अतिरिक्त व्यवस्था करते हैं। यहाँ कहते हैं कि ये लक्षण केवल स्त्रियों में पाये जाते हैं। अतः आप विचार कर देखें कि स्त्री कौन है? वस्तुतः आपके हृदय की प्रवृत्ति ही 'नारी' है। उसमें इन गुणों का संचार होना चाहिए। इन गुणों को धारण करना स्त्रीलिंग-पुलिंग सबके लिए उपयोगी है। जो मुझसे होते हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

गायन करने योग्य श्रुतियों में मैं बृहत्साम अर्थात् बृहत् से संयुक्त, समत्व दिलानेवाला गायन हूँ अर्थात् ऐसी जागृति मैं हूँ। छन्दों में गायत्री छन्द मैं हूँ। गायत्री कोई मन्त्र नहीं है, जिसे पढ़ने से मुक्ति मिलती हो वरन् एक समर्पणात्मक छन्द है। तीन बार विचलित होने के पश्चात् ऋषि विश्वामित्र ने अपने को इष्ट के प्रति समर्पित करते हुए कहा- **'ॐ भूर्भुवः स्वः**

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।' अर्थात् भूः, भुवः और स्वः तीनों लोकों में तत्त्वरूप से व्याप्त देव! आप ही वरेण्य हैं। हमें ऐसी बुद्धि दें, ऐसी प्रेरणा करें कि हम लक्ष्य को प्राप्त कर लें। यह मात्र एक प्रार्थना है। साधक अपनी बुद्धि से यथार्थ निर्णय नहीं ले पाता कि मैं कब सही हूँ और कब गलत? उसकी यह समर्पित प्रार्थना मैं हूँ, जिसमें निश्चित कल्याण है; क्योंकि वह मेरे आश्रित हुआ है। मासों में शीर्षस्थ मार्ग मैं हूँ और जिसमें सदैव बहार हो, ऐसा ऋतु, हृदय की ऐसी अवस्था भी मैं ही हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

तेजस्वी पुरुषों का तेज मैं हूँ। जुए में छल करनेवालों का छल मैं हूँ। तब तो अच्छा है, जुआ खेलें, उसमें कल-बल-छल करें, वही भगवान हैं। नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। यह प्रकृति ही एक जुआ है। यही ठगिनी है। इस प्रकृति के द्वन्द्व से निकलने के लिए दिखावा छोड़कर छिपाव के साथ गुप्त रूप से भजन करना ही छल है। छल है तो नहीं, किन्तु बचाव के लिए आवश्यक है। जड़ भरत की तरह उन्मत्त, अन्धे-बहरे और गूँगे की तरह हृदय से जानकार होते हुए भी बाहर से ऐसे रहें कि अनजान हों, सुनते हुए भी न सुनें, देखते हुए भी न देखें। छिपकर ही भजन का विधान है, तभी साधक प्रकृति-पुरुष के जुए में पार पाता है। जीतनेवालों की विजय मैं हूँ और व्यवसायियों का निश्चय (जिसे अध्याय दो, श्लोक इकतालीस में कह आये हैं। इस योग में निश्चयात्मक क्रिया एक है, बुद्धि एक ही है, दिशा एक ही है ऐसी) क्रियात्मक बुद्धि मैं हूँ। सात्त्विक पुरुषों का तेज और ओज मैं हूँ।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।।३७।।

वृष्णिवंश में मैं वासुदेव अर्थात् सर्वत्र वास करनेवाला देव हूँ। पाण्डवों में मैं धनंजय हूँ। पुण्य ही पाण्डु है और आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। पुण्य से प्रेरित होकर आत्मिक सम्पत्ति को अर्जित करनेवाला धनंजय मैं हूँ। मुनियों में मैं व्यास हूँ। परमतत्त्व को व्यक्त करने की जिसमें क्षमता है, वह मुनि मैं हूँ। कवियों में उशना अर्थात् उसमें प्रवेश दिलानेवाला काव्यकार मैं हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

दमन करनेवालों में दमन की शक्ति मैं हूँ। जीतने की इच्छावालों की मैं नीति हूँ। गुप्त रखने योग्य भावों में मौन हूँ और ज्ञानवानों में साक्षात् के साथ मिलनेवाली जानकारी, पूर्ण ज्ञान मैं हूँ।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अर्जुन! सब भूतों की उत्पत्ति का कारण भी मैं ही हूँ; क्योंकि चर और अचर ऐसा कोई भी भूत नहीं है जो मुझसे रहित हो। मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ। सब मेरे ही सकाश से हैं।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

परंतप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। अपनी विभूतियों का विस्तार तो मैंने संक्षेप से कहा है, वस्तुतः वे अनन्त हैं।

इस अध्याय में कुछ ही विभूतियों का स्पष्टीकरण किया गया है क्योंकि अगले ही अध्याय में अर्जुन इन सबको देखना चाहता है; क्योंकि प्रत्यक्ष दर्शन से ही विभूतियाँ समझ में आती हैं। विचारधारा समझने के लिए इसी से थोड़ा अर्थ दिया गया।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।।४१।।

जो-जो भी ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तुएँ हैं, उन-उन को तू मेरे तेज के एक अंश मात्र से उत्पन्न हुई जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

अथवा अर्जुन! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंशमात्र से धारण करके स्थित हूँ।

उपर्युक्त विभूतियों के वर्णन का तात्पर्य यह नहीं है कि आप या अर्जुन इन सभी वस्तुओं को पूजने लगे बल्कि श्रीकृष्ण का आशय केवल इतना ही

है कि इन सब ओर से श्रद्धा समेटकर केवल उन अविनाशी परमात्मा में लगावें। इतने से ही उनका कर्त्तव्य पूर्ण हो जाता है।

निष्कर्ष–

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने कहा कि, अर्जुन! मैं तुझे पुनः उपदेश करूँगा क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है। पहले कह चुके हैं, फिर भी कहने जा रहे हैं; क्योंकि पूर्तिपर्यन्त सद्गुरु से सुनने की आवश्यकता रहती है। मेरी उत्पत्ति को न देवता और न महर्षिगण ही जानते हैं क्योंकि मैं उनका भी आदि कारण हूँ; क्योंकि अव्यक्त स्थिति के पश्चात् की सार्वभौम अवस्था को वही जानता है, जो हो चुका है। जो मुझ अजन्मा, अनादि और सम्पूर्ण लोकों के महान् ईश्वर को साक्षात्कार सहित जानता है वही ज्ञानी है।

बुद्धि, ज्ञान, असंमूढ़ता, इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, सन्तोष, तप, दान और कीर्ति के भाव अर्थात् दैवी सम्पद् के उक्त लक्षण मेरी देन हैं। सात महर्षिजन अर्थात् योग की सात भूमिकाएँ, उससे भी पहले होनेवाले तदनुरूप अंतःकरण चतुष्टय और इनके अनुकूल मन जो स्वयंभू है, स्वयं रचयिता है – ये सब मुझमें भाववाले, लगाव और श्रद्धावाले हैं, जिनकी संसार में सम्पूर्ण प्रजा है, ये सब मुझसे ही उत्पन्न हैं अर्थात् साधनामयी प्रवृत्तियाँ मेरी ही प्रजा हैं। इनकी उत्पत्ति अपने से नहीं, गुरु से होती है। जो उपर्युक्त मेरी विभूतियों को साक्षात् जान लेता है, वह निःसन्देह मुझमें एकीभाव से प्रवेश करने योग्य है।

अर्जुन! मैं ही सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ– ऐसा जो श्रद्धा से जान लेते हैं वे अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हैं, निरन्तर मुझमें मन, बुद्धि और प्राणों से लगनेवाले होते हैं, आपस में मेरा गुण-चिन्तन और मुझमें रमण करते हैं। उन निरन्तर मुझसे संयुक्त हुए पुरुषों को मैं योग में प्रवेश करनेवाली बुद्धि प्रदान करता हूँ। यह भी मेरी ही देन है। किस प्रकार बुद्धियोग देते हैं? तो अर्जुन! **'आत्मभावस्थ'**– उनकी आत्मा में जागृत होकर खड़ा हो जाता हूँ और उनके हृदय में अज्ञान से उत्पन्न अन्धकार को ज्ञानरूपी दीपक से नष्ट करता हूँ।

अर्जुन ने प्रश्न किया कि भगवन्! आप परम पवित्र, सनातन, दिव्य, अनादि और सर्वत्र व्याप्त हैं – ऐसा महर्षिगण कहते हैं तथा वर्तमान में

देवर्षि नारद, देवल, व्यास और आप भी वही कहते हैं। यह सत्य भी है कि आपको न देवता जानते हैं और न दानव। स्वयं आप जिसे जना दें, वही जान पाता है। आप ही अपनी विभूतियों को कहने में समर्थ हैं। अतः जनार्दन! आप अपनी विभूतियों को विस्तार से कहिए। पूर्तिपर्यन्त इष्ट से सुनते रहने की उत्कण्ठा बनी रहनी चाहिए। आगे इष्ट के अन्तराल में क्या है, उसे साधक क्या जाने।

इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने एक-एक करके अपनी इक्यासी विभूतियों का लक्षण संक्षेप में बताया - जिनमें से कुछ तो योग-साधन में प्रवेश करने के साथ मिलनेवाली अन्तरंग विभूतियों का चित्रण है और शेष कुछ समाज में ऋद्धियों-सिद्धियों के साथ पायी जानेवाली विभूतियों पर प्रकाश डाला और अन्त में उन्होंने बल देकर कहा - अर्जुन! बहुत कुछ जानने से तेरा क्या प्रयोजन है? इस संसार में जो कुछ भी तेज और ऐश्वर्ययुक्त वस्तुएँ हैं, वह सब मेरे तेज के अंशमात्र में स्थित हैं। वस्तुतः मेरी विभूतियाँ अपार हैं। ऐसा कहते हुए योगेश्वर ने इस अध्याय का पटाक्षेप किया।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों की मात्र बौद्धिक जानकारी दी, जिससे अर्जुन की श्रद्धा सब ओर से सिमटकर एक इष्ट में लग जाए; किन्तु बन्धुओ! सब कुछ सुन लेने और बाल की खाल निकालकर समझ लेने के बाद भी चलकर उसे जानना शेष ही रहता है। यह क्रियात्मक पथ है।

सम्पूर्ण अध्याय में योगेश्वर की विभूतियों का ही वर्णन है। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'विभूतिवर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के सम्वाद में 'विभूति वर्णन' नामक दसवाँ अध्याय पूर्ण होता है।

इति श्रीमत्परमहंसपरमानन्दस्य शिष्य स्वामी अड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता'भाष्ये 'विभूतिवर्णनम्' नाम दशमोऽध्यायः।।१०।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।